दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष आठवाँ
अंक तीसरा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

आषाढ़
२४७८

वंदित्तु सव्वसिद्धे

[सिद्ध समान सदा पद मेरा]

श्री समयसार के प्रारम्भ में ही आचार्यदेव आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करते हैं; अहो, सिद्ध भगवन्तो! मेरे हृदयस्थान में विराजो! मैं सिद्धों का आदर करता हूँ... मुझ में सिद्ध होने का सामर्थ्य है, उसका विश्वास करके मैं अपने आत्मा में सिद्धों की स्थापना करता हूँ। मेरा आत्मा, सिद्ध के स्वभाव जैसा है—ऐसा स्वीकार करके मैं सिद्धों का आदर करता हूँ—भावनमस्कार करता हूँ।—इसप्रकार अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करना, वह धर्म का अपूर्व मंगल-प्रारम्भ है।

—श्री समयसार गाथा-१ पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों से

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

८७

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

भावना

'अहो! एक चिदानंदी भगवान के अतिरिक्त अन्य भाव मन-मन्दिर में न आए! एक चैतन्यदेव को ही ध्येयरूप बनाकर उसके ध्यान की लीनता से आनंदकंद स्वभाव की रमणता में मैं कब पूर्ण होऊँ! मात्र चैतन्यस्वभाव का ही आश्रय करके केवलज्ञान प्रगट करना, वह तीर्थंकरों के कुल की टेक है... अनंत तीर्थंकर जिस पथ पर विचरे, उसी पथ के पथिक हम भी हैं! मैं चिदानंद नित्य हूँ और समस्त संसार अनित्य है; मेरा आनंदकंद चिदानंद स्वभाव ही मुझे शरणभूत है; अन्य कुछ मुझे जगत में शरण नहीं है।—ऐसी भावना भा-कर तीर्थंकरभगवान जब दीक्षा लेते होंगे, वह काल और प्रसंग कैसा होगा? जीव को आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भावना भी अनंतकाल में दुर्लभ है।'

[दीक्षाकल्याणक प्रवचन से]

आत्मधर्म

आषाढ़ २४७८ ❀ वर्ष आठवाँ ❀ अंक तीसरा

आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?

[लेखांक-२] [अंक ८४ से आगे]

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का
वर्णन किया है, उस पर पूज्य गुरुदेव के
विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार

☆☆☆

[जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि 'हे प्रभो! यह आत्मा कौन है और उसकी प्राप्ति किसप्रकार होती है ?' उसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है और अनंत नयोंवाले श्रुतज्ञानप्रमाण द्वारा स्वानुभव से वह ज्ञात होता है। प्रमाण द्वारा ज्ञात होनेवाला वह आत्मा द्रव्यनय से चिन्मात्र है और पर्यायनय से दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि मात्र है।—इसप्रकार दो नयों से आत्मा का वर्णन किया; वह ८४ वें अंक में आ गया है।]

[३] अस्तित्वनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य अस्तित्वनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला है; लोहमय डोरी और कमान के अंतराल में, संधानित अवस्था में स्थित और लक्ष्योन्मुख तीर की भाँति।

अनंत धर्मों के पिण्डरूप पूर्ण आत्मद्रव्य तो प्रमाण का विषय है, और उसी को अस्तित्वनय से देखने पर वह अस्तित्ववाला है। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आत्मा अस्तित्ववाला है, इसप्रकार अस्तित्वनय स्व से अस्ति को ही लक्ष में लेता है। पर से आत्मा नास्तित्वरूप है, वह बात

नास्तित्वनय में आयेगी। अस्तित्व धर्म को जाने, वह अस्तित्वनय; नास्तित्वधर्म को जाने, वह नास्तित्वनय। प्रमाणज्ञान से पूर्ण वस्तु की स्वीकृतिपूर्वक उसके एक पक्ष को मुख्य करके जाने, उसका नाम नय है। वस्तु अपने अनंत भावों से भरी हुई है, भावरहित कोई वस्तु नहीं होती। वस्तु को पहिचानने के लिये उसमें भरे हुए भावों को जानना चाहिए। वस्तु के भावों को (-धर्मों को) जाने बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती। जैसे - बाजार में कोई वस्तु लेने जाये तो उसका भाव जान लेता है; उसीप्रकार यहाँ चैतन्यवस्तु की प्राप्ति करने के लिये उसमें विद्यमान उसके स्व-भावों को जानना चाहिए। वस्तु में अनंत स्वभाव हैं, उनमें से यह अस्तित्व स्वभाव का वर्णन चल रहा है। [स्वभाव का अर्थ है वस्तु का धर्म।]

आत्मा का अस्तित्व है—ऐसा सामान्यरूप से तो अनेक लोग मानते हैं, किन्तु उसका अस्तित्व किसप्रकार है, उसके स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव कैसे हैं, उसे जाने बिना यथार्थ आत्मा का अस्तित्व ज्ञात नहीं होता। आत्मा का अस्तित्व जिस स्वरूप से है, उसी स्वरूप से पहिचानकर माने तो वह सच्चा आस्तिक कहलाता है, किन्तु आत्मा के अस्तित्व को जो विपरीतरूप से माने, वह परमार्थतः नास्तिक है।

आत्मा अपने द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से अस्तिरूप है। आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को समझाने के लिये यहाँ आचार्यदेव ने तीर का दृष्टान्त दिया है—जिसप्रकार कोई तीर स्वद्रव्य से लोहमय है, स्वक्षेत्र से डोरी और कमान के मध्य में स्थित है, स्वकाल से संधानदशा में अर्थात् धनुष पर खिंची हुई स्थिति में है और स्वभाव से लक्ष्योन्मुख अर्थात् निशान के सन्मुख है; इसप्रकार वह तीर अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय से अस्तित्व वाला है।

(१) स्वद्रव्य : जिसप्रकार बाण लोहमय है, वह उसका स्वद्रव्य है; उसीप्रकार आत्मा अनंत गुण-पर्याय का पिण्ड चैतन्यमय है, वह उसका स्वद्रव्य है।

(२) स्वक्षेत्र : जिसप्रकार डोरी और कमान के बीच स्थित है, वह बाण का स्वक्षेत्र है; उसीप्रकार आत्मा अपने असंख्य चैतन्यप्रदेशों में स्थित है, वह उसका स्वक्षेत्र है।

(३) स्वकाल : जिसप्रकार बाण छूटने की तैयारी में अर्थात् खिंची हुई अवस्था में है, वह उसका स्वकाल है; उसीप्रकार आत्मा अपनी साधक आदि वर्तमान अवस्था में है, वह उसका स्वकाल है।

(४) स्वभाव : जिसप्रकार अपने निशान के सन्मुख रहनेरूप भाव, वह तीर का स्वभाव

है; उसीप्रकार उस-उस काल की पर्याय के सन्मुख हुआ आत्मा का जो त्रिकाली भाव है, वह उसका स्वभाव है।

इसप्रकार, जैसे बाण अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में स्थित है; उसीप्रकार आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से अस्तित्ववाला है। वस्तु का ऐसा अस्तित्व अपने से ही है, किसी पर के कारण नहीं है।

बाण की खिंची हुई अवस्था, वह बाण का अपना स्वकाल है; मनुष्य के विकल्प के कारण अथवा हाथ के कारण बाण की उस अवस्था का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो बाण का अपना स्वकाल नहीं रहता। उसका स्वकाल उसके अपने अस्तित्व धर्म से है, किसी दूसरे के कारण नहीं है। उसीप्रकार आत्मा की सम्यग्दर्शनादि पर्यायें, वह उसका अपना स्वकाल है, किन्हीं देव-गुरु आदि पर के कारण उस स्वकाल का अस्तित्व नहीं है। अपने वर्तमान प्रवर्तित स्वकाल में द्रव्य स्वयं ही स्थित है, द्रव्य का ही वैसा अस्तित्वधर्म है। इसीप्रकार कमान और डोरी के बीच अपनी लंबाई-चौड़ाई में तीर स्थित है, वही उसका क्षेत्र है; आकाश का क्षेत्र, वह बाण का स्वक्षेत्र नहीं है, वह तो परक्षेत्र है, उसमें बाण स्थित नहीं है। भाई! तू देख तो कि तेरा अस्तित्व कहीं बाह्य में नहीं है, तुझमें ही तेरा अस्तित्व परिपूर्ण भरा है; सिद्ध भगवान होने का सामर्थ्य भी तेरे अस्तित्व में ही भरा पड़ा है, वह कहीं बाहर से नहीं आता।

जो ज्ञान ऐसे स्व-अस्तित्व को जाने, उसका नाम अस्तित्वनय है। अहो! एक अस्तित्वधर्म कहने से उसमें द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव चारों का समावेश हो जाता है। आत्मा का अस्तित्व जानने के लिये उसके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव जानना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—

१- चैतन्यमय अनंत गुणों का पिण्ड, वह आत्मा का स्वद्रव्य है।

२- शरीर के प्रमाण में, तथापि शरीर से भिन्न, असंख्यप्रदेशी विस्तृत-वह आत्मा का स्वक्षेत्र है।

३- सम्यग्दर्शन, मुनिपना अथवा सिद्धदशा आदि प्रत्येक समय की वर्तमान वर्तती पर्याय-वह आत्मा का स्वकाल है। आत्मा का स्वकाल कहा, इसलिये पर से कोई अवस्था हो, वह बात ही नहीं रहती। निगोदिया जीव की निगोददशा भी उसका स्वकाल है; वह अपने से है—कर्म के कारण नहीं है।

४- उस-उस समय की पर्याय में परिणमित आत्मा के ज्ञानादि भाव त्रिकाल रहते हैं;

वर्तमान पर्याय के सन्मुख हुआ भाव स्थायी रहता है अर्थात् ज्ञानादि गुण तीनों काल उस-उस काल की पर्यायरूप परिणमित हो जाते हैं; ऐसा जो त्रिकालस्थायी रहने वाला भाव है, वह आत्मा का स्वभाव है।

—ऐसे स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल और स्वभाव से आत्मा अस्तित्वरूप है। एक अस्तित्वधर्म से आत्मा को बराबर समझे तो सब गड़बड़ी दूर हो सकती है। अस्तित्वधर्म ऐसा बतलाता है कि आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को ग्रहण करनेवाला आत्मा ही है। बस! कहीं परसन्मुख देखने की या पर में से कुछ लेने की बुद्धि नहीं रहती; अपने धर्म के लिये अपने में ही देखना रहता है; आत्मा के ऐसे अस्तित्वस्वभाव को समझे तो वह अपने में ढले बिना न रहे और उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होकर परमानंद की प्राप्ति हुए बिना न रहे।

प्रश्न — यह तो अत्यन्त सूक्ष्म बात है, इसलिये समझना कठिन लगता है; इससे अच्छा तो, 'स्वाश्रय से मुक्ति और पराश्रय से बंधन'—ऐसा संक्षेप में ही समझा दीजिये न?

उत्तर — 'स्वाश्रय से मुक्ति और पराश्रय से बंधन'-यह बात सच है, किन्तु इसमें भी साथ में यह बात भी आ जाती है; क्योंकि 'स्वाश्रय से मुक्ति'—ऐसा कहनेवाले को भी स्व का आश्रय करने के लिये 'स्व' कौन है, वह तो जानना पड़ेगा न? स्व अर्थात् अपना आत्मा कौन है-कैसा है, उसे जाने बिना उसका आश्रय कैसे करेगा? प्रथम आत्मा को यथावत् जाने, तभी उसका आश्रय कर सकता है। इसप्रकार 'स्वारय से मुक्ति'-ऐसा कहने से भी पहले स्व को जानने की ही बात आई। यहाँ परिशिष्ट में शिष्य का भी यह प्रश्न था कि हे भगवान! यह मेरा आत्मा कौन है-कैसा है कि जिसे जानकर उसका आश्रय करने से मैं परमानंददशा को प्राप्त कर लूँ? शिष्य के उस प्रश्न के उत्तर में यह आत्मा का वर्णन चल रहा है; उसमें आत्मा का अस्तित्व कैसा है, वह बतलाते हैं। इसलिये यदि यह बात सूक्ष्म मालूम हो, तो भी रुचिपूर्वक ध्यान रखकर समझने योग्य है। अब तो बहुत ही स्पष्ट और सरल करके समझाया जा रहा है, किन्तु उसे समझने के लिये मस्तिष्क में से दूसरी चिंताओं को निकालकर, जिसप्रकार कहा जाता है, उसीप्रकार लक्ष में लेकर अन्तर में विचार करना चाहिए। इसे समझे बिना शांति का दूसरा कोई उपाय है ही नहीं।

आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक पदार्थ है। उसे सामान्य एकरूप अभेद चैतन्यपिण्डरूप से लक्ष में लेना, सो निश्चयनय है, और एक धर्म का भेद करके लक्ष में लेना, सो व्यवहारनय है।

निश्चय से आत्मा को बन्ध-मोक्षवाला कहना भी व्यवहार है।—ऐसी अध्यात्मनय की शैली है; किन्तु इस परिशिष्ट में तो आत्मा बन्ध-मोक्षवाला है, वह भी निश्चयनय में लेंगे; क्योंकि आत्मा स्वयं अकेला ही बंध और मोक्षपर्यायरूप परिणमित होता है-वह बतलाने के लिये उन्हें भी यहाँ निश्चय में गिना है; क्योंकि यहाँ द्रव्यदृष्टि के विषय का वर्णन नहीं है किन्तु वस्तु के सभी पक्षों का ज्ञान कराके प्रमाणज्ञान करने की यह बात है। यद्यपि प्रमाण से सभी पक्षों का ज्ञान करनेवाला भी अभेदस्वभाव को दृष्टि में लेकर उसी ओर ढलता है, किन्तु पहले तत्त्व का निर्णय करते समय धर्म के भेद करके विचार आता है।

आत्मा के अस्तित्वधर्म को जाने तो उसमें स्वकाल की पहिचान भी आ जाती है। प्रतिक्षण जो पर्यायें होती हैं, वह उसका स्वकाल है, वह उसका अपना धर्म है, उसमें दूसरे का अभाव है। तीर की जो पर्याय है, वह उसका अपना स्वकाल है; वह पर्याय हाथ के कारण अथवा आत्मा के कारण नहीं हुई है। पराधीनदृष्टिवाले को ऐसा लगता है कि यदि तीर की पर्याय उसके अपने से ही होती हो तो हाथ लगने से पूर्व क्यों न हुई ? हाथ के आने पर ही क्यों हुई ?—ऐसा पूछनेवाले को वस्तु की पर्याय के समय-समय के उपादान की खबर नहीं है। तीर में पहले अन्य प्रकार की अवस्था का स्वकाल था, और पश्चात् धनुष पर अनुसंधान अवस्था होने का उसका स्वकाल आया, तब वह अवस्था उसी के उपादान से हुई है।

उपादान दो प्रकार के हैं :—एक शाश्वत उपादान और दूसरा क्षणिक उपादान। द्रव्य का जो त्रिकाली स्वभाव है, वह शाश्वत् उपादान है और उसकी प्रत्येक समय की पर्याय की योग्यता, सो क्षणिक उपादान है; प्रत्येक पर्याय का क्षणिक उपादान भिन्न-भिन्न प्रकार का है। अज्ञानी को प्रतिसमय की पर्याय के स्वतंत्र उपादान का अर्थात् स्वकाल का भान नहीं है, इसलिये जैसा निमित्त आता है, वैसी पर्याय होती है—ऐसा वह मानता है; वह उसकी मूल में भूल है। और क्षणिक पर्याय जितना ही पूर्ण आत्मा के स्वभाव को मान ले, उसे वस्तु के त्रिकाली शुद्ध उपादान का अर्थात् स्वभाव का भान नहीं है। स्वकाल क्षणिक उपादान है और स्वभाव त्रिकाली उपादान है। आत्मा के अस्तित्वधर्म को जाने, उसमें यह सब आ जाता है। अस्तित्व में स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आ जाते हैं, और द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में यह सब रहस्य समा जाता है।

वस्तु की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल से होती है, निमित्त से नहीं होती,—ऐसा वस्तुस्वरूप है। शास्त्रों में 'कर्म जीव को विकार कराते हैं'—ऐसा व्यवहारनय का उपचारकथन

आता हो, वहाँ अज्ञानी उसका अर्थ वैसा ही मान लेता है, उसे निश्चय-व्यवहार की खबर नहीं है। निश्चय-व्यवहार में भी अनेक अपेक्षाएँ हैं। वे इसप्रकार हैं:—

(१) जब, आत्मा स्वयं विकारी परिणाम करता है-ऐसा बतलाने के लिये उसे निश्चय कहा तब, उसमें कर्म का उदय निमित्त है, उसका ज्ञान कराने के लिये उस निमित्त को व्यवहार कहा; किन्तु वास्तव में कर्म का उदय जीव को विकार कराता है—ऐसा कहने का उस व्यवहार का आशय नहीं है। [वहाँ स्व, सो निश्चय और पर, सो व्यवहार-ऐसी शैली है।]

(२) मोक्षमार्ग का वर्णन चलता हो, वहाँ शुभराग को व्यवहार और शुद्धता को निश्चय कहते हैं। [वहाँ पर्याय की शुद्धता, सो निश्चय और पर्याय की अशुद्धता, सो व्यवहार-ऐसी शैली है।]

(३) जब द्रव्य की बात चलती हो तब, अभेद द्रव्य, सो निश्चय और गुण-पर्याय के जितने भेद पड़ें, वह सब व्यवहार है—ऐसा कहा जाता है। [वहाँ अभेद, सो निश्चय और भेद, सो व्यवहार—ऐसी शैली है।]

इसप्रकार जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे समझना चाहिये।

स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्ति है और पर से नास्ति है—यह बात यथार्थ समझे तो सब गुत्थी सुलझ जाये। यह अस्ति-नास्ति धर्म सभी द्रव्यों में है; प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप है और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से वह नास्तिरूप है। यहाँ आत्मा के अस्तित्वधर्म की बात चलती है। प्रत्येक वस्तु में अस्ति-नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ, वे वस्तु को सिद्ध करती हैं; विरोधी शक्तियाँ ऐसी नहीं होती कि एक-दूसरे का निषेध करें। यदि एक धर्म दूसरे धर्म का निषेध करे, तब तो वस्तु ही अनंतधर्मवाली सिद्ध न हो। अस्तिधर्म और नास्तिधर्म—दोनों परस्पर विरुद्ध होने पर भी वस्तु में दोनों एकसाथ विद्यमान हैं, इसलिये वस्तु अनेकान्त-स्वभाववाली है। धर्म अपेक्षा से विरोध होने पर भी एक वस्तु में साथ रहने की अपेक्षा से उनमें विरोध नहीं है। धर्म अनंत भिन्न-भिन्न होने पर भी धर्मी वस्तु एक है; वह अनंत धर्म वाली वस्तु प्रमाण का विषय है, और उसका प्रत्येक धर्म नय का विषय है।

आत्मा त्रिकाल अपने से ही अस्तित्ववाला है इसलिये, किसी परवस्तु की सहायता हो तो मेरा अस्तित्व बना रहे और मुझे अनुकूलता रहे—यह बात ही नहीं रहती। अहो! मैं अपनी चैतन्यसत्ता से ही सदैव स्थित रहनेवाला हूँ—इसप्रकार यदि अपने अस्तित्व का निर्णय करे तो कितनी निर्भयता हो जाये! जगत का कोई भी प्रतिकूल संयोग आकर मेरा नाश करेगा अथवा मुझे

हैरान करेगा—ऐसा भय दूर हो जाये। अपने से ही आत्मा का अस्तित्व है; इसलिये आत्मा का समस्त पर पदार्थों के बिना ही चल रहा है। 'मेरा पर के बिना नहीं चल सकता'—ऐसी विपरीत मान्यता करनेवाले अज्ञानी जीव का भी पर बिना ही त्रिकाल निभ रहा है। अपनी पर्याय में उसने राग के बिना अनादिकाल से नहीं चलाया, तथापि द्रव्यस्वभाव में तो राग नहीं है, त्रिकाली तत्त्व राग के बिना ही निभ रहा है। ऐसा समझे तो स्वभावसन्मुख होकर राग से पृथक् हो जाये-पर से पृथक् तो है ही। यहाँ प्रमाण के विषयभूत पूर्ण वस्तु का वर्णन होने से राग को भी आत्मा का धर्म—आत्मा का स्वभाव—कहेंगे। किन्तु उसे जानने का फल भी तो रागरहित चैतन्यस्वभाव की ओर ढलना ही है। आत्मा रागरूप परिणमित होता है; इसलिये राग भी आत्मा का ही एक धर्म है।—ऐसा जानने वाला जीव, राग में रुककर वह नहीं जानता, किन्तु राग का ज्ञाता रहकर जानता है। राग को जानने वाला ज्ञान, राग में एकाकार होकर नहीं जानता किन्तु राग से पृथक् रहकर जानता है।

(१) समस्त गुण-पर्यायों का पिण्ड, वह स्वद्रव्य।

(२) अपने असंख्य आत्मप्रदेश, वह स्वक्षेत्र।

(३) अपने वर्तमान समय की अवस्था, वह स्वकाल। और

(४) उस-उस पर्याय के सन्मुख झुका हुआ जो त्रिकाली शक्तिरूप भाव, वह स्वभाव।

—इसप्रकार स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल और स्वभाव से आत्मा अस्तित्वरूप है। आचार्यदेव ने तीर का दृष्टान्त देकर यह बात स्पष्ट की है।

(१) जिसप्रकार तीर लोहमय है, लोहमयपना वह उसका स्वद्रव्य है; उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा अपने गुण-पर्याय में है, वह उसका स्वद्रव्य है, ऐसे स्वद्रव्य से उसका अस्तित्व है।

(२) जिसप्रकार वह लोहमय तीर डोरी और धनुष के बीच अपने लोहमय स्व-क्षेत्र में स्थित है, उसीप्रकार आत्मा अपने असंख्यात चैतन्यप्रदेशरूपी स्व-क्षेत्र में स्थित है, वही आत्मा का निवासस्थान अर्थात् स्वक्षेत्र है। इसके अतिरिक्त आत्मा सौराष्ट्र देश में विद्यमान है अथवा आत्मा शरीर में विद्यमान है-ऐसा कहना वह आत्मा का सच्चा क्षेत्र नहीं है; वह तो आत्मा से बाह्य क्षेत्र है। बाह्य क्षेत्र में आत्मा का अस्तित्व नहीं है किन्तु अपने ही क्षेत्र में आत्मा का अस्तित्व है।

(३) किसी लक्ष के सन्मुख अनुसंधानित अवस्था, वह तीर का स्वकाल है, उसमें वह स्थित है; उसीप्रकार आत्मा अपनी वर्तमान एकसमय की जो अवस्था वर्त रही है, उसमें विद्यमान

है, वह उसका स्वकाल है। पैसा-कुटुम्ब-प्रतिष्ठा आदि सब बराबर हो, तब लोग कहते हैं कि आजकल हमारे दिन अच्छे हैं, और थोड़ी-सी प्रतिकूलता आने पर कहते हैं कि भाई! हमारे लिये बुरा समय आ गया है; किन्तु वास्तव में पैसादि परवस्तुएँ आयें या जायें—उनके साथ आत्मा के स्वकाल का सम्बन्ध नहीं है।—ऐसा समझ ले तो पैसादि के संयोग-वियोग के समय एकत्वबुद्धि से हर्ष-शोकादि न हों। मेरी एक-एक समय की पर्यायरूप स्वकाल से मेरा अस्तित्व है; द्रव्य त्रिकाल है, वह कारण है और पर्याय प्रत्येक समय की है, वह कार्य है। मेरे त्रिकाली द्रव्य का एक-एक समय का वर्तमान कार्य ही मेरा स्वकाल है;—ऐसा समझकर द्रव्योन्मुख होने से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह आत्मा का शुद्ध स्वकाल-सुकाल है।

(४) लक्ष्य के सन्मुख रहनेरूप जो भाव है, वह तीर का स्वभाव है; उसीप्रकार आत्मा का जो शक्तिरूपभाव है, वह परिणमित होकर पर्याय के सन्मुख होता है; इसलिये प्रत्येक समय की पर्याय होने की शक्तिवाला जो स्थायी भाव (-शक्ति) है, वह आत्मा का स्वभाव है।

इसप्रकार, अस्तित्वनय यह जानता है कि मेरा आत्मद्रव्य मेरे अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व वाला है। ऐसा अस्तित्व समझनेवाले को आत्मा की स्वतंत्रता की प्रतीति होती है और पराधीनता की दृष्टि छूट जाती है, उसका नाम अपूर्व धर्म है।

अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव—इन चारों के मेल से अपना अस्तित्व है, एक अस्तित्वधर्म में उन चारों प्रकारों का समावेश हो जाता है। स्वकाल अर्थात् अपने श्रद्धा-ज्ञानादि की प्रत्येक समय की वर्तमान पर्याय, उससे आत्मा सत् है। अशुभ, शुभ अथवा शुद्ध भावरूप उस-उस समय की पर्याय में वह द्रव्य ही विद्यमान है, वह उसका अपना ही स्वकाल है, अपने स्वकाल से रहित वस्तु नहीं होती और वस्तु का स्वकाल किसी दूसरे से नहीं होता।

रागपर्याय एक समय का स्वकाल है, और स्वद्रव्य में तो सिद्धदशा के अनंत स्वकाल प्रगट होने का सामर्थ्य है; इसलिये यदि राग के समय राग जितना ही आत्मा का अस्तित्व मान ले तो दूसरे समय निर्मल स्वकाल कहाँ से आयेगा तथा वह राग दूर होकर दूसरे समय द्रव्य का अस्तित्व रहेगा कहाँ? वर्तमान स्वकाल पलटकर दूसरे समय का स्वकाल हो, वह द्रव्य में से ही आता है और उस स्वकाल में भी द्रव्य का ही अस्तित्व है। इसलिये जो जीव वर्तमान विकारी स्वकाल जितना ही अपने को माने, और वह स्वकाल पलटकर दूसरी सीधी पर्यायों का स्वकाल प्रगट हो—ऐसा स्वभावसामर्थ्य है, उसकी प्रतीति न करे तो उसने अपने पूर्ण अस्तित्व को नहीं पहिचाना। एक

समय के स्वकाल जितना ही मेरा पूर्ण अस्तित्व नहीं है किन्तु मैं तो तीनोंकाल के स्वकाल के पूर्ण सामर्थ्य का पिण्ड हूँ—ऐसा समझे तो क्षणिक राग जितना ही आत्मा को न माने; इसलिये राग के साथ की एकत्वबुद्धि छूटकर त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की ओर ढले बिना न रहे। प्रथम ऐसी दृष्टि हुए बिना आत्मा की ओर ढलकर एकाग्र होना नहीं रहता, इसलिये उसे मोक्ष नहीं हो सकता। इसलिये प्रथम वस्तु का स्वरूप समझना ही मोक्षमार्ग का उपाय है। इसके अतिरिक्त किसी भी रीति से मोक्षमार्ग के प्रारम्भ का अंश भी नहीं होता।

श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजा-भक्ति करने का जो शुभभाव हुआ, वह भी आत्मा का स्वकाल है; धर्मी को भी वीतरागी स्वकाल प्रगट होने से पूर्व वैसा भाव हो जाता है। वहाँ धर्मी जीव को अंतर में भान है कि मेरी निर्बलता का काल है, इसलिये यह राग होता है। स्वभाव की प्रभुता का भान है और पर्याय के राग का भी भान है। यह राग मुझे किसी पर के कारण नहीं होता किन्तु अपने स्वकाल के कारण होता है; और उस समय बाह्य में जो पुष्प, जल आदि की क्रिया होती है, वह मेरे स्वकाल से भिन्न है; मेरे शुभराग के कारण वह क्रिया नहीं होती; आत्मा उस समय के अपने स्वकाल के ज्ञानभाव तथा पूजा-भक्ति के भाव करता है किन्तु पुष्प, जल आदि परद्रव्यों को उठाने-रखने की क्रिया आत्मा नहीं करता। जल आदि की जो क्रिया होती है, उसमें परवस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं, उसमें उसी का अस्तित्व है, आत्मा का अस्तित्व उसमें नहीं है; इसलिये आत्मा उसे नहीं कर सकता। आत्मा का अस्तित्व अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है और पर का अस्तित्व पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है; किसी के अस्तित्व के कारण किसी दूसरे में कुछ नहीं होता। ऐसा होने से पुष्प, जल आदि परवस्तु की क्रिया हो, उसमें आत्मा का आरम्भ-समारम्भ नहीं है और न उसके कारण आत्मा को पुण्य-पाप होता है। आत्मा का आरम्भ-समारम्भ तो अपने अस्तित्व में-अपने भाव में है; अपने भाव में यदि शुभ परिणाम हो तो वह पुण्य का कारण है और अपने भाव में यदि अशुभ परिणाम हो तो वह पाप का कारण है; तथा शुभ-अशुभ से रहित शुद्ध परिणाम, सो धर्म है। इसप्रकार आत्मा को अपने भावों का ही फल है। बाह्य क्रिया हो, उससे आत्मा को आरम्भ-समारम्भ का पाप लग जाता है और बाह्य क्रिया को आत्मा रोके तो आरम्भ-समारम्भ का पाप रुकता है—यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि बाह्य क्रिया में तो आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है। अज्ञानी लोग पुष्प, जल आदि को देखकर भड़कते हैं किन्तु अन्तर में परिणाम कैसे हैं, वह नहीं जानते। भगवान की परमशांत वीतरागी प्रतिमा के समक्ष सम्यक्त्वी एकावतारी इन्द्र-

इन्द्राणी भी भक्ति से नाच उठते हैं। देखो, नंदीश्वर नामक द्वीप में रत्नों के शाश्वत् जिनबिम्ब हैं, वहाँ कार्तिक, फाल्गुन और अषाढ़ मास में शुक्ला ८ से १५ तक देव भक्ति करने जाते हैं। जिसप्रकार आत्मा में परमात्मपने की शक्ति सदैव है, और वह शक्ति जिनके प्रगट होती है, ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा भी जगत में सदैव क्रमशः होते ही रहते हैं, उसीप्रकार उस परमात्मपने के प्रतिबिम्बरूप वीतरागी प्रतिमाएँ भी जगत् में शाश्वत् हैं। आत्मा का ज्ञायकबिम्बस्वभाव अनादिकालीन है, वैसे ही उसके निमित्तरूप से-उसके प्रतिबिम्बरूप से जिनप्रतिमा भी अनादि से हैं। उनके निकट जाकर इन्द्र-इन्द्राणी जैसे एकावतारी जीव भी भक्ति से थिरकते हुए नृत्य करने लगते हैं! उस समय अंतर में भान है कि इस मूर्ति का अस्तित्व इसके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है, मूर्ति में अथवा देह की क्रिया में हमारा अस्तित्व नहीं है; हमारा अस्तित्व अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है। ऐसे सम्यक् भान में स्वाश्रय से अपना स्वकाल अंशतः तो निर्मल हुआ है और अल्पकाल में द्रव्य का पूर्ण आश्रय करने से पूर्ण निर्मल स्वकाल उसे प्रगट हो जायेगा, इसलिये वह स्वयं परमानंदमय परमात्मा हो जायेगा! भगवान की भक्ति के समय, अशुभराग दूर होकर जो शुभराग हुआ, वह आत्मा का स्वकाल है, उसमें आत्मा का अस्तित्व है, किन्तु पर की क्रिया में आत्मा का अस्तित्व नहीं है। अष्टप्रकार की पूजा के समय आठ वस्तुएँ एकत्रित करने की जो बाह्य-क्रिया होती है, उसे आत्मा की प्रवृत्ति माने और उस क्रिया के न होने को आत्मा की निवृत्ति माने, उसे अपने और पर के भिन्न-भिन्न स्वकाल का भान नहीं है; अस्तित्वधर्म की खबर नहीं है; उसका ज्ञान मिथ्या है। मिथ्याज्ञान महान अधर्म है।

साधक के श्रुतज्ञान में नय पड़ते हैं, उन नयों से आत्मा कैसा ज्ञात होता है, उसका यह वर्णन है। केवलज्ञान होने से तो ज्ञान और स्वज्ञेय दोनों पूर्ण हो गये; पूर्ण ज्ञान हो जाने के पशत् नय से जानना नहीं रहता। वहाँ तो लोकालोक के समस्त पदार्थ ज्ञान के ज्ञेय हो गये हैं, समस्त ज्ञेयों को ज्ञान एकसाथ स्पष्ट-प्रत्यक्ष जान लेता है; इसलिये उस ज्ञान का विषय परिवर्तित नहीं होता अर्थात् ज्ञान एक ज्ञेय में से दूसरे ज्ञेय में नहीं जाता और वहाँ राग भी नहीं है। निचली दशा में रागी जीव को पूर्ण ज्ञानस्वभाव का भान होने पर भी ज्ञान अभी पूर्ण प्रगट नहीं हुआ है, इसलिये उसके ज्ञान का लक्ष एक ज्ञेय में से दूसरे ज्ञेय में बदलता है। एक समय में लोकालोक को जानने के सामर्थ्यवाला पूर्ण द्रव्य उसकी श्रद्धा में आया है किन्तु ज्ञान अभी अपूर्ण है, इसलिये एक समय में वह लोकालोक को नहीं जान सकता, इससे उसके ज्ञान का उपयोग एक ज्ञेय में से दूसरे ज्ञेय में बदलता है, और राग

भी है। जिस समय जिसप्रकार के राग की योग्यता हो, उस समय वैसा ही राग होता है और वैसा ही निमित्त होता है, वहाँ उस-उस समय के राग को और निमित्त को ज्ञान जानता है। इसलिये जिसप्रकार राग और निमित्त पृथक्-पृथक् परिवर्तित होते हैं, उसीप्रकार उन्हें जाननेवाला ज्ञान भी बदलता है। राग अनेक प्रकार का है, जिस समय जिसप्रकार का राग हो, उस समय उसप्रकार के निमित्त पर ही लक्ष जाता है। भक्तिभाव के समय भगवान पर लक्ष जाता है, किन्तु स्त्री पर लक्ष नहीं जाता; और विषय के भावों के समय स्त्री पर लक्ष जाता है किन्तु सिद्ध भगवान पर लक्ष नहीं जाता।—इसप्रकार जैसा राग हो, वैसे ही निमित्त पर लक्ष जाता है। तथापि राग के कारण निमित्त नहीं आता, और निमित्त के कारण राग नहीं होता। राग और निमित्त दोनों का स्वकाल पृथक् है। और ज्ञान भी जिस समय जैसा राग तथा जैसा निमित्त हो, उसे जानता है। किन्तु राग या निमित्त के कारण मुझे ज्ञान हुआ—ऐसा धर्मी नहीं मानते। उसकाल वैसे ही राग और वैसे ही निमित्त को जाने—ऐसी मेरे स्व-परप्रकाशक ज्ञान की ही योग्यता थी, इसलिये मुझे ज्ञान हुआ है—ऐसा धर्मी जानता है, इसलिये उसे ज्ञान और राग की भिन्नता का भान है, इससे एकत्वबुद्धि का राग तो उसके होता ही नहीं। यह सब समझे तभी अस्तित्वधर्म को यथार्थ पहिचाना कहा जाता है। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आत्मा का अस्तित्व है—ऐसा समझे, उसमें यह सारी बात साथ ही आ जाती है।

इसप्रकार अस्तित्वनय से आत्मा को अस्तित्वधर्मवाला बतलाया। अब, नास्तित्वनय से देखने पर वही आत्मा परचतुष्टय से नास्तित्वरूप है—ऐसा कहते हैं।

[४] नास्तित्वनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य नास्तित्वनय से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला है;—जो अलोहमय, डोरी और कमान के अंतराल में स्थित नहीं है, संधानित अवस्था में स्थित नहीं है और अलक्ष्योन्मुख—ऐसे पहले के तीर की भाँति।

अस्तित्व और नास्तित्व—यह दोनों धर्म एक ही वस्तु में एकसाथ स्थित हैं; इसलिये अस्तित्वधर्म के वर्णन में जो तीर का दृष्टान्त था, वही तीर नास्तित्वधर्म के दृष्टान्त में लिया है। इसलिये अस्तित्वधर्म दूसरी वस्तु का और नास्तित्वधर्म दूसरी वस्तु का—ऐसा नहीं है किन्तु एक ही वस्तु के दोनों धर्म हैं।

जिस तीर को स्वचतुष्टय से अस्तिरूप कहा, वही तीर अन्य तीर के द्रव्य की अपेक्षा से अलोहमय है, अन्य तीर के क्षेत्र की अपेक्षा से डोरी और कमान के बीच में स्थित नहीं है, अन्य तीर

के काल के अपेक्षा से संधानित अवस्था में स्थित नहीं है, और अन्य तीर के भाव की अपेक्षा से अलक्ष्योन्मुख है; उसीप्रकार आत्मा अपने स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तिरूप है और वही आत्मा परवस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से नास्तिरूप है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है; उसके साथ अन्य अनंत धर्म हैं; उन सब धर्मों का पिण्ड आत्मा है। आत्मा के अनंत धर्मों में से कोई भी धर्म पर के आधार से नहीं है और न पर के कारण हैं; और परवस्तु का कोई धर्म आत्मा में नहीं है और न आत्मा के कारण है। प्रत्येक वस्तु में अपने-अपने अनंत धर्म स्वतंत्र हैं। यहाँ तो आत्मा को बतलाने के लिये आत्मा के धर्मों का वर्णन चल रहा है।

आत्मद्रव्य में अनंत धर्म हैं; उन सब धर्मों को प्रमाण एकसाथ जानता है और नय उनके एक-एक धर्म को मुख्य करके जानता है। वस्तु में अनंत धर्म हैं, उसीप्रकार उन्हें जाननेवाले नय भी अनंत हैं। उनमें से द्रव्यनय, पर्यायनय और अस्तित्वनय—इन तीन नयों से आत्मा के धर्मों का वर्णन किया। अब, चौथे नास्तित्वनय से आत्मा कैसा है, वह बात चलती है।

जो आत्मद्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला है, वही आत्मद्रव्य पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप नहीं है अर्थात् नास्तित्ववाला है। पर से अस्तित्व का न होना भी वस्तु का ही एक अंश है। वस्तु में जहाँ भाव-अंश है, वहीं ऐसा अभाव-अंश है; जहाँ स्व से अस्तित्वरूप धर्म है, वहीं पर से नास्तित्वरूप धर्म भी साथ में ही है; एक ही अंशी के दो अंश हैं। नास्तित्वधर्म भी अपना ही अंश है। नास्तित्वधर्म स्वयं कहीं वस्तु में अभावरूप नहीं है किन्तु सत् है। उस धर्म में 'पररूप नहीं है'—ऐसी पर की अपेक्षा भले आये किन्तु नास्तित्वधर्म कहीं पर के आधार से या पर का नहीं है, वह धर्म तो वस्तु का अपना ही है।

आत्मा का नास्तित्वधर्म यह बतलाता है कि समस्त परपदार्थोंरूप से आत्मा नास्तिरूप है, इसलिये परवस्तु आत्मा में क्या करेगी? और आत्मा किसी परवस्तु में क्या करेगा? दो द्रव्यों के बीच परस्पर अभावरूप ऐसी अभेद्य दीवार है कि कोई किसी में कुछ नहीं कर सकता। परवस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पर में उसके अपने से हैं, और आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आत्मा में अपने से हैं; एक की दूसरे में नास्ति है। जो जीव यह बात बराबर समझ ले, वह पराश्रय की बुद्धि छोड़कर स्वाश्रयोन्मुख हुए बिना न रहे।

कर्म के चतुष्टय से कर्म का अस्तित्व है और आत्मा उसके चतुष्टयरूप नहीं है, इसलिये कर्म आत्मा को कुछ करे—ऐसा नहीं हो सकता। उसीप्रकार शास्त्र और वाणी का अस्तित्व आत्मा

से भिन्न है, इसलिये शास्त्र या वाणी के कारण आत्मा को ज्ञान हो—ऐसा नहीं हो सकता। शास्त्रादि परवस्तु से मुझे ज्ञान होता है या कर्मादि परवस्तु से मेरा ज्ञान रुकता है—ऐसा जिसने माना है, उसने पररूप से आत्मा का नास्तित्व है—ऐसा नहीं जाना; अर्थात् आत्मा के नास्तित्वधर्म को नहीं जाना; इसलिये उसने आत्मा को ही नहीं जाना है। आत्मा कैसा है, वह जाने बिना कहाँ धर्म करेगा?

जगत् में एक आत्मा ही है और दूसरा सब भ्रम है—ऐसा जो माने, वह आत्मा के नास्तित्वधर्म को नहीं मान सकता। जगत में आत्मा का और आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का अस्तित्व है, उसे स्वीकार करे तभी 'आत्मा उन परपदार्थोंरूप नहीं है'—ऐसे नास्तित्वधर्म को मान सकता है। सर्वज्ञ के शासन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं ऐसे वस्तुधर्मों का वर्णन नहीं हो सकता।

जिसप्रकार जगत में 'खरगोश के सींग' हैं ही नहीं; इसलिये 'मुझे खरगोश के सींग दिखाई दिये'—ऐसा ज्ञान भी किसी को नहीं होता; उसीप्रकार जगत में यदि अजीवादि परपदार्थों को भी सर्वथा अभावरूप ही माने तो उसे 'पर से मेरा नास्तित्व है'—ऐसा समझना भी नहीं रहता अर्थात् परोन्मुखता छोड़कर स्वोन्मुख होना ही नहीं रहता। इसप्रकार पर का सर्वथा अभाव मानने से अपना 'अभावधर्म' ही सिद्ध नहीं होता; इसलिये आत्मवस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

इस जगत में यदि आत्मा के अतिरिक्त परवस्तुएँ न हों तो आत्मा को भ्रान्ति कैसे हो? अकेले स्वभाव में भ्रान्ति नहीं होती। यदि अकेले स्वभाव में भी भ्रान्ति हो, तब तो वह भ्रान्ति भी स्वभावरूप हो जाये, इसलिये वह दूर ही न हो। इसलिये, भ्रान्ति के निमित्तरूप परवस्तु है, उसके अस्तित्व को ही जो न माने, उसकी भ्रान्ति कभी दूर हो ही नहीं सकती।

और, वह भ्रान्ति यदि परवस्तु के कारण होती हो तो, परवस्तुएँ जगत में सदैव होने से वह भ्रान्ति भी सदैव होती ही रहे! आत्मा के सन्मुख होने से उस भ्रान्ति का छेदन हो जाता है, इसलिये निश्चित हुआ कि वह भ्रान्ति पर के लक्ष से है किन्तु पर के कारण नहीं है। जो परवस्तु को बिल्कुल न माने, वह कभी भ्रान्ति दूर कर ही नहीं सकता और जो परवस्तु के कारण भ्रान्ति माने, उसकी भ्रान्ति कभी दूर नहीं हो सकती।

जगत में मैं स्व हूँ और पर भी है; उसमें स्व-पर की एकत्वबुद्धि को छेदने के लिये स्व-पर की एकत्वबुद्धि का छेदन करना चाहिए, उसके बदले अज्ञानी, परवस्तु के अस्तित्व का ही सर्वथा निषेध कर डालते हैं, वह स्थूल मिथ्यात्व है। मैं स्व-रूप से हूँ और पर पर-रूप से है, पर से मेरा नास्तित्व है—ऐसा समझकर स्व-पर का भेदज्ञान करने से भ्रान्ति दूर होकर सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है; वह अपूर्व धर्म है!

नय भले ही वस्तु के धर्मों को मुख्य-गौण करके जाने, किन्तु वस्तु में तो समस्त धर्म एकसाथ ही हैं। वस्तु का स्व से अस्तित्व जाने, उसमें पर से नास्तित्व का ज्ञान साथ में आ ही जाता है। अस्ति-नास्ति दोनों धर्म एकसाथ ही हैं।

ज्ञान का अस्तित्व ज्ञेय के कारण नहीं है। प्रत्येक आत्मा में ज्ञानधर्म और ज्ञेय होने का धर्म है। उसमें ज्ञेयधर्म (प्रमेयत्वधर्म) के कारण ज्ञानधर्म नहीं है और ज्ञान के कारण प्रमेयत्वधर्म नहीं है। अहो! अपने में भी एक धर्म के कारण दूसरा धर्म नहीं है, तब फिर अपना कोइ धर्म पर के कारण हो—यह बात ही कहाँ रही? ज्ञान-धर्मरूप से ज्ञान का अस्तित्व है और प्रमेयत्वधर्मरूप से ज्ञानधर्म का नास्तित्व है।—ऐसा यदि न हो तो अनंत धर्म सिद्ध नहीं हो सकते।

पुनश्च, ज्ञान ज्ञानरूप है और परज्ञेयरूप वह नहीं है; इसलिये ज्ञेय के कारण ज्ञान हो—यह बात ही नहीं रहती। यदि ज्ञेय के कारण ज्ञान होता हो, तब तो केवलज्ञान पराधीन हो जाये... और ज्ञेय तो जगत में सदैव हैं, इसलिये केवलज्ञान भी सदैव होना चाहिए! लेकिन ऐसा नहीं होता, इसलिये ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं होता। जिसमें ज्ञान का नास्तित्व है, उससे ज्ञान कैसे हो सकता है? यद्यपि जैसा ज्ञेय पदार्थ हो, वैसा ही केवलज्ञान में ज्ञात होता है, तथापि ज्ञेय के कारण वह ज्ञान नहीं होता, ज्ञान का अपना स्वभाव ही वैसा है।

जिसप्रकार पर के कारण ज्ञान नहीं होता, उसीप्रकार पर के कारण ज्ञान रुकता भी नहीं है। ज्ञानावरणीयकर्म, ज्ञान को रोकता है—ऐसा कहना वह निमित्त के उपचार का कथन है; वहाँ वास्तव में ज्ञान अपने स्वकाल से रुका है—ऐसे अनुपचार वस्तुस्वरूप को लक्ष में रखकर समझे, तभी उपचार कथन का आशय समझ सकता है। यथार्थ वस्तुस्वरूप क्या है, उसके भान बिना उपचार को ही सच्चा स्वरूप मान ले तो वह वस्तुस्थिति को नहीं समझता।

गोम्मटसार आदि में कथन आता है कि—

'ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान को रोकता है,
दर्शनावरणीय कर्म दर्शन को रोकता है,
मोहनीय कर्म चारित्र तथा सम्यक्त्व को रोकता है,
अंतराय कर्म वीर्य को रोकता है।'

— यह सब कथन निमित्त के हैं। सन्मुख जब कर्म के उदय का स्वकाल है, उसी समय उस निमित्त से पृथक् आत्मा का अपना स्वकाल है या नहीं? जब आत्मा स्वयं अपने स्वकाल

में—अपनी योग्यता से—ज्ञानादि के विकास में रुका है, उस समय सामने कैसे निमित्त का अस्तित्व है, वह बतलाने के लिये निमित्त से कथन किया है। वहाँ अज्ञानी अपने स्वकाल से च्युत होकर निमित्त को ही लिपट जाता है—मानो निमित्त से पृथक् अपना कोई स्वकाल ही न हो! भाई! सामने जो ज्ञानावरणीय कर्म निमित्त है, वह तो तेरे नैमित्तिकभाव की इसप्रकार घोषणा करता है कि उस समय आत्मा के स्वकाल में ज्ञान की पूर्णता नहीं है। ज्ञान की पूर्णता हो तो सामने आवरण का निमित्त न हो। 'कर्म ने ज्ञान को रोका'—ऐसा निमित्त से कथन भले हो, किन्तु वहाँ उपादान का स्वकाल निमित्त से पृथक् स्वतंत्र है, उसे पहिचान लेना चाहिए। कथन की शैली भले भिन्न-भिन्न प्रकार की हो किन्तु वस्तुस्वरूप तो जैसा हो वैसा समझना चाहिए न! चरणानुयोग हो या प्रथमानुयोग हो—किसी भी अनुयोग का कथन हो, किन्तु चारों अनुयोगों में आत्मा तो एक ही प्रकार का है, आत्मा कहीं भिन्न-भिन्न चार प्रकार का नहीं है। द्रव्यानुयोग का आत्मा दूसरा है और चरणानुयोग का आत्मा तो दूसरा ही है—ऐसा नहीं है। प्रयोजनवश मात्र कथनशैली में अंतर होता है।

समयसार और नियमसार आदि में ऐसा कहा है कि भगवान शुद्ध आत्मा में कोई उदयभाव हैं ही नहीं; वहाँ द्रव्यदृष्टि का वर्णन है। दृष्टि के विषय में पर्याय गौण हो जाती है। और तत्त्वार्थसूत्र आदि में ऐसा कहते हैं कि उदयभाव आत्मा का स्वतत्त्व है; वहाँ प्रमाण के विषय का वर्णन है। उदयभावरूप भी आत्मा स्वयं परिणमित होता है, आत्मा की ही वह पर्याय है, इसलिये उसे स्वतत्त्व कहा है। वह उदयभाव आत्मा के स्वकाल से अस्तिरूप है और कर्म से नास्तिरूप है, इसलिये कर्म के उदय के कारण वह उदयभाव हुआ—ऐसा वास्तव में नहीं है। पर से तो आत्मा का नास्तित्व है, इसलिये आत्मा और पर के बीच महान नास्तित्वरूपी किला है; इसलिये पर आत्मा का कुछ भी कर सके—ऐसा नहीं हो सकता।

अरिहंत प्रभु संसार में रहे हैं, वह अपने योग के कंपन आदि की योग्यता से रहे हैं; चार अघातिकर्म शेष हैं, इसलिये अरिहंत प्रभु को संसार में रहना पड़ा है—ऐसा नहीं है। चार अघातिकर्मों का अरिहंत के आत्मा में तो नास्तित्व है, तो वे क्या करेंगे?

'यह आत्मा अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करनेवाला है'—ऐसा केवली भगवान ने ज्ञान में देखा, वहाँ भगवान के ज्ञान के कारण यह आत्मा मोक्ष प्राप्त करता है—ऐसा नहीं है। भगवान का केवलज्ञान, वह उनका स्वकाल है; इस आत्मा के लिये तो वह परकाल है; उस परकाल से आत्मा का अस्तित्व नहीं है किन्तु नास्तित्व है। यदि ऐसे अस्ति-नास्तिधर्म को बराबर जाने तो, जगत के

समस्त पदार्थ स्वतंत्र भिन्न-भिन्न हैं—ऐसा समझे, इसलिये कहीं भी पर में एकत्वबुद्धि न रहे, किसी दूसरे से लाभ-हानि होने की मान्यता न रहे, किसी पर के आश्रय की रुचि न रहे और अपने स्वभाव की ओर ढले—यही उसका फल है

मैं पर से पृथक हूँ—ऐसा कहनेवाला यदि स्वोन्मुख होकर वैसा मानता हो, तभी वास्तव में पर से पृथक्त्व माना कहलाये। शास्त्र पढ़कर 'पर से पृथक् हूँ'—ऐसा तो कहे, किन्तु परसन्मुख पर्यायबुद्धि छोड़कर स्वभाव के आश्रय की ओर न ढले तो उसने यथार्थरूप में पर से भिन्नता नहीं जानी। पर्याय में विकार होता है, उसे मैं दूर कर दूँ—ऐसी बुद्धि भी पर्यायबुद्धि है, उसकी दृष्टि विकार पर है, स्वभाव पर उसकी दृष्टि नहीं है। 'यह विकार हुआ, इसे दूर करूँ'—इसप्रकार विकार-सन्मुख देखने से विकार का अभाव नहीं होता किन्तु उत्पत्ति होती है। जिस समय जो विकार उत्पादरूप है, उस समय तो वह सत् है, उसी समय उसका अभाव नहीं हो सकता; और दूसरे समय तो वह स्वयं व्यय हो जाता है, इसलिये दूसरे समय भी दूर करना नहीं रहता। इसप्रकार विकार को दूर करना नहीं रहता। किन्तु द्रव्य की सन्मुखता में विकार की उत्पत्ति ही न हो, यही विकार के अभाव की रीति है। इसलिये वास्तव में सब का अन्तिम तात्पर्य तो द्रव्य की सन्मुखता करना ही आता है।

❀❀❀

आत्मा कैसा है, उसका यह वर्णन चल रहा है। आत्मा में अनंत धर्म हैं, वे अनंत नयों से ज्ञात होते हैं। आत्मा को जान ले, तभी उसकी प्राप्ति कर सकता है। प्रथम, समस्त पक्षों से आत्मतत्त्व का निर्णय करने के लिये धर्म के भेद से विचार आता है; स्वभाव के साक्षात् अनुभव के समय भेद के विकल्प नहीं होते, किन्तु प्रथम जो विचारपूर्वक निर्णय न करे, उसे तो अभेद आत्मा का अनुभव हो ही नहीं सकता।

जिसे आत्मा को समझने की आकांक्षा जागृत हुई है—ऐसे शिष्य को आचार्यभगवान समझाते हैं कि हे भाई! तेरा आत्मा अपने स्वरूप से है और पररूप से वह नास्तिवाला है। आत्मा ज्ञायक चैतन्यस्वरूप सिद्ध जैसा है, उसके स्वभाव में तो आनंद ही है; किन्तु अंतर के अवलंबन से उस स्वभाव का भान अनादिकाल से कभी नहीं किया, इसलिये उसकी प्राप्ति नहीं हुई। पूर्व काल में आत्मा की प्राप्ति नहीं हुई, वह काल तो बीत गया, किन्तु अब उसका भान करके परमात्मदशा की प्राप्ति किसप्रकार हो, उसकी यह बात चल रही है। लोग भी कहते हैं कि—'जागे तब सवेरा।' उसीप्रकार आत्मा का भान जब स्वयं करे, तब होता है। उसमें पूर्व का काल विघ्नरूप नहीं होता।

आत्मा अपने स्वचतुष्टयरूप से है और किसी भी परवस्तु से किसी काल में, किसी क्षेत्र में वह नहीं है; इसलिये आत्मा को पर के कारण संसार या मोक्ष नहीं होता। आत्मा स्व-रूप से है, उसमें पर का अभाव है, वह अभाव उसे कोई लाभ-हानि करे—ऐसा नहीं हो सकता। वर्तमान दशा में परम आनंद का अभाव है और विकारदशा प्रगट है, वही संसार है। शरीरादि पर का आत्मा में अभाव है, इसलिये उनकी क्रिया द्वारा आत्मा में कोई भाव होता है—यह यथार्थ नहीं है। अभाव में से भाव कैसे हो सकता है ?

आत्मा स्वयं परिपूर्ण अनंत धर्म वाला है, किन्तु अपनी महिमा का उसे भान नहीं है, इसलिये अपने स्वभाव की मैत्री से च्युत होकर परनिमित्त की मैत्री करके संसार में भटकता है। पर से आत्मा को संसार नहीं है, किन्तु पर के संग से संसार है। स्वभाव का संग (-स्वकाल का आश्रय) करे तो उसमें पर के संग की (पर के आश्रय की) नास्ति है। पर का आश्रय छोड़कर अपना आश्रय कब करता है ?—पर से अपनी भिन्नता समझ ले तब। मेरे स्वचतुष्टय से मेरी अस्ति है और पर के स्वचतुष्टय से उसकी अस्ति है; पर के चतुष्टय में मेरी नास्ति है और मेरे चतुष्टय में पर की नास्ति है।

चतुष्टय अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—यह चार। उनमें से द्रव्य-क्षेत्र और भाव तो त्रिकाली हैं और काल प्रत्येक समय की वर्तमान पर्याय है। प्रत्येक वस्तु में अपने एक-एक समय के स्वकाल की भी अपने से अस्ति है और पर से नास्ति है, अर्थात् पर्याय स्वतंत्र है, उसमें किसी दूसरे का प्रभाव नहीं है।

एक परमाणु की दूसरे परमाणु में नास्ति है, इसलिये वास्तव में एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। शरीर में छुरी घुस जाये और दुःख हो, वहाँ संयोग से देखनेवाले लोगों को ऐसा लगता है कि 'शरीर में छुरी घुस गई, इसलिये दुःख हुआ;' किन्तु वास्तव में वैसा नहीं है। शरीर की अवस्था शरीर में, छुरी की अवस्था छुरी में और दुःखरूप आत्मा की अवस्था आत्मा में है। छुरी के कारण शरीर की अवस्था नहीं होती और शरीर छिदा उस कारण आत्मा की दुःख-अवस्था नहीं हुई है। प्रत्येक की अवस्था अपने-अपने काल से स्वतंत्र है। नास्तित्वधर्म को यथार्थ समझे तो उसमें यह सब न्याय एक ही साथ आ जाते हैं।

जिसप्रकार, जो तीर अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप है, वही तीर दूसरे तीर के लोहरूप नहीं है, दूसरे क्षेत्र में नहीं है, दूसरी अवस्था में नहीं है और दूसरे भाव में नहीं है; इसप्रकार

परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से वह नास्तिरूप है; उसीप्रकार आत्मा अपने चतुष्टय से अस्तिरूप है और वही परवस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तिरूप है। दूसरे आत्मा की अपेक्षा से दूसरे आत्मा हैं, किन्तु एक आत्मा की अपेक्षा दूसरे सभी आत्मा 'अनात्मा' हैं; तब फिर एक आत्मा दूसरे आत्मा को क्या कर सकता है? नास्तित्व का अर्थ है अभाव; एक में दूसरे का अभाव है। जिस में जिसका अभाव हो, उसमें वह क्या करेगा? 'अभाव' कुछ नहीं कर सकता। जिसप्रकार खरगोश के सींगों का जगत में अभाव है तो वह लगे और घाव हो—ऐसा कभी नहीं हो सकता। उसीप्रकार पर में आत्मा का अभाव है तो वह पर में क्या करेगा? और परवस्तु आत्मा का क्या कर सकती है? सिद्धभगवान से लेकर निगोद तक के सभी जीव अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से हैं और पर से नहीं हैं।—ऐसा वस्तुस्वरूप जाने बिना सम्यग्ज्ञान या सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन का विषय तो अभी अत्यन्त सूक्ष्म है। प्रथम, पर से भेदज्ञान किये बिना अंतर के सूक्ष्म रागादिभावों से स्वभाव का भेदज्ञान कैसे करेगा?

क्षणिक रागादिभाव भी अपने स्वकाल से अस्तित्वरूप है, जड़कर्म के कारण उसका अस्तित्व है—ऐसा नहीं है, अर्थात् कर्म के कारण रागादि नहीं होते किन्तु स्वपर्याय की योग्यता से होते हैं।—ऐसा निश्चित करके स्वभाव की अंतर्दृष्टि से ऐसा समझे कि यह राग का अस्तित्व तो मात्र एक समय जितना ही है और मेरे स्वभाव का अस्तित्व त्रिकाल है; मेरा त्रिकाली स्वभाव राग जितना नहीं है, मेरे त्रिकाली स्वभाव में एकसमय के राग का नास्तित्व है; इसप्रकार स्वभाव को दृष्टि में लेकर उसकी प्रतीति करे, तब भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ कहलाये।

यदि पर्याय में अशुद्धता का एकसमय का अस्तित्व न हो तो जीव को संसार ही सिद्ध न हो, और मोक्षपर्याय तो हुई नहीं है, इसलिये स्वकाल का अभाव होने से जीव का ही अभाव हो जाये। यदि जीव का अस्तित्व माने तो जीव का स्वकाल भी मानेगा या नहीं? स्वकाल में पूर्ण शुद्धता तो है नहीं; इसलिये संसारदशा है। इसप्रकार जीव के स्वकाल को माने बिना जीव का अस्तित्व ही वास्तव में नहीं मान सकता। पर से भिन्न अस्तित्व जानने के पश्चात्, अपने में क्षणिक राग जितना त्रिकाली स्वभाव का अस्तित्व नहीं है, त्रिकाली स्वभाव तो रागरहित है—ऐसा पहिचानकर उस स्वभाव की मैत्री करके पर की मैत्री छोड़े, उसका नाम धर्म है। पर से मुझे लाभ-हानि होते हैं—ऐसी पर के साथ एकत्वपने की मान्यता, वह पर के साथ मैत्री है, वह संसार का कारण है। जिसे स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है, उसे अंतर में स्वभाव और परभाव के बीच का भेदज्ञान कहाँ से होगा? आत्मा के इन अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों को समझे तो भेदज्ञान हुए बिना न रहे।

आत्मा का द्रव्य, असंख्यप्रदेशी क्षेत्र और अनंत गुणोंरूप भाव—वे तो त्रिकाल हैं; पर्यायें क्रमशः तीनों काल होती रहती हैं, किन्तु उन पर्यायों का काल एकसमयपर्यंत है। विकारी या अविकारी भाव हो, वह उसका स्वकाल है। उस समय जगत में दूसरी वस्तु का अस्तित्व है किन्तु उससे इस आत्मा के स्वकाल का नास्तित्व है, इसलिये उस पर से कुछ भी लाभ-हानि नहीं होता। अब, आत्मा में स्वकाल का आधार तो स्व-द्रव्य है, इसलिये शुद्ध द्रव्य पर दृष्टि जाती है। मैं स्व-रूप से हूँ और पररूप से नहीं हूँ—ऐसा पर से भेदज्ञान करके, स्व में भी 'मैं त्रिकाल शुद्ध चिदानंद हूँ—विकार जितना नहीं हूँ'—ऐसा भेदज्ञान करके शुद्धस्वभाव का आश्रय करने से अपूर्व धर्म होता है। द्रव्य त्रिकाल है और पर्याय क्षणिक है—ऐसा जो जान ले, उसकी रुचि का बल त्रिकाली द्रव्य की ओर ढले बिना न रहे।

जिसप्रकार स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव—यह चारों मिलकर एक अस्तित्व है, कहीं अस्तित्व के चार भिन्न-भिन्न प्रकार नहीं हैं, उसीप्रकार परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव—इन चारोंरूप न होनेरूप एक ही नास्तित्वधर्म है, कहीं भिन्न-भिन्न चार धर्म नहीं हैं।

स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व कहा, उसमें तो एक अपने ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा आई; और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्व कहा, उसमें अपने अतिरिक्त दूसरे अनंत पदार्थों के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आ गये। उन सब के रूप से आत्मा का नास्तित्व है।

यह आत्मा अपने स्वद्रव्य से अस्तिरूप है और वही आत्मा परद्रव्य की अपेक्षा से 'अद्रव्य' है। पर से नास्तित्व है—ऐसा कहो, या पर की अपेक्षा से अद्रव्य है—ऐसा कहो, दोनों एक ही हैं। उसीप्रकार आत्मा स्वक्षेत्र से है और परक्षेत्र की अपेक्षा से वह 'अक्षेत्र' है; स्वकाल से और परकाल की अपेक्षा से वह 'अकाल' है; स्व-भाव से और पर-भाव की अपेक्षा से वह 'अभाव' है।

जिसप्रकार तीर अपनी अपेक्षा से लोहमय है और दूसरे तीर के लोहे की अपेक्षा से वह स्वयं अलोहमय भी है; उसीप्रकार आत्मा अपने द्रव्यमय है और पर के द्रव्यमय नहीं है; इसलिये अद्रव्यमय भी है। अस्तित्वनय से देखने पर वह अपने द्रव्यमय है और नास्तित्वनय से देखने पर वह स्वयं ही अद्रव्यमय है अर्थात् पर के द्रव्यरूप वह नहीं है। इसीप्रकार पर का क्षेत्र, पर का काल और पर का भाव—उससे भी आत्मा का नास्तित्व है। अपने चतुष्टय से देखने पर आत्मा है और पर के चतुष्टय से देखने पर आत्मा स्वयं अभावरूप है।—ऐसे दोनों धर्म प्रत्येक आत्मा में एकसाथ विद्यमान हैं। यह धर्म परस्पर सापेक्ष हैं, इसलिये किसी भी एक धर्म को मुख्य करके जानते समय ही उसके साथ दूसरे अनंत धर्मों की अपेक्षा साथ ही हैं।

अज्ञानी को ऐसा लगता है कि जो तीर लोहमय है, वही अलोहमय कैसे हो सकता है ? जो आत्मा 'है', वही आत्मा 'नहीं है'—ऐसा कैसे हो सकता है ? किन्तु भाई ! तू स्याद्वाद से समझ। स्याद्वाद में अपेक्षा कहाँ बदलती है, वह जाने बिना वस्तु का स्वरूप समझ में नहीं आ सकता। तीर को लोहमय कहा, वह अपनी अपेक्षा से है और उसी को अलोहमय कहा, वह पर की अपेक्षा से है; जगत में दूसरे जो लोहमय तीर हैं, उनकी अपेक्षा पहला तीर अलोहमय है। इसप्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षा से दोनों धर्म उसमें सिद्ध होते हैं। उसीप्रकार जो आत्मा स्वचतुष्ट से है, वही आत्मा परचतुष्टय से नहीं है;—इसप्रकार दोनों धर्म उसमें सिद्ध होते हैं। ऐसा अनेकान्त वस्तुस्वरूप है।

मेरा आत्मा मेरे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप है और अपने अतिरिक्त समस्त पदार्थों के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से मैं अद्रव्यमय-अक्षेत्रमय-अकालमय और अभावमय हूँ—ऐसा नास्तित्वधर्म है; उसे जो समझे, वह जीव पर में से मुझे सुख प्राप्त होगा - ऐसा न माने; पर मुझे अनुकूल हो तो ठीक और प्रतिकूल हो तो अठीक—ऐसा मिथ्याभाव उसे न हो। पर से मुझे सुख होता है—ऐसा मिथ्याभाव स्वयं दुःखरूप है; पर में से सुख तो आता ही नहीं। 'पर से मुझे सुख होता है'—ऐसा अज्ञानी ने माना अवश्य है, किन्तु वहाँ उसे पर में से सुख होने का तो अभाव ही है; उसकी पर्याय में वह मिथ्या मान्यता का भाव अस्तिरूप है और उस मिथ्याभाव का आत्मा को दुःख होता है। वह दुःखरूप भाव आत्मा की पर्याय में एकसमयपर्यंत होता है, किन्तु त्रिकाली भाव में तो उसका भी अभाव है।

इसप्रकार, नास्तित्वनय से आत्मा को पर के अभावरूप जानने से ज्ञान स्वोन्मुख होता है। आत्मा पर से तो बिल्कुल अभावरूप है, इसलिये पर से किंचित् भी लाभ-हानि उसे नहीं है,—ऐसा निश्चित करे, उसे पर के प्रति तीव्र राग-द्वेष तो होते नहीं हैं; अल्प राग-द्वेष होते हैं, वे भी पर के कारण नहीं होते। राग अपना स्वकाल है, स्वकाल का परकाल में अभाव है, इसलिये राग है, वह अपना स्वकाल है—ऐसा निश्चित करनेवाले को स्वोन्मुख होना रहा। स्व-पर्याय में विकार है और त्रिकाली द्रव्य में नहीं है—ऐसा जिसने जाना, उसके ज्ञान का बल त्रिकाली स्वभाव की ओर ढले बिना नहीं रहता। इसप्रकार, स्वभावोन्मुख होना ही नय का तात्पर्य है। नय भले ही चाहे जिस धर्म को मुख्य करके जाने, किन्तु उसका परमार्थ तात्पर्य—अन्तिम योगफल तो शुद्ध चैतन्यद्रव्य की ओर ढलना ही है।

पर की अपेक्षा से आत्मा का अभाव है और आत्मा में पर का अभाव है; इसलिये पर के कारण आत्मा का ज्ञान विकसित हो अथवा पर से आत्मा की बुद्धि बिगड़े—ऐसा नहीं है। निर्दोष

सादा आहार करे तो उसके कारण निर्दोष भाव रहे और रसयुक्त सदोष आहार करे तो उससे बुद्धि बिगड़ जाये—ऐसा नहीं है। यह सब बात नास्तित्वधर्म में आ जाती है।

अस्ति-नास्ति स्वभाव को बराबर समझे तो सब गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं। सिद्ध का आत्मा या निगोद का आत्मा—कोई भी आत्मा, पर से नहीं है। सिद्ध भगवान के आत्मा का स्वकाल ही ऐसा है कि अलोक में वह नहीं जाता; लोक में रहने का उसका स्वकाल है; निमित्त नहीं है; इसलिये वे अलोक में नहीं जा सकते—ऐसा नहीं है। इसी प्रकार निगोद का जीव निगोददशा में रहा है, वह भी उसके अपने अस्तित्व का स्वकाल है, उसमें कर्म की नास्ति है; और कर्म के अस्तित्व में आत्मा का नास्तित्व है, इसलिये कर्म के कारण वह जीव निगोद में रहा है—ऐसा नहीं है। यदि कर्म के बल के कारण उस जीव को निगोद में रहना पड़ता है—ऐसा कोई माने तो वहाँ कर्म के अस्तित्व के कारण आत्मा के स्वकाल का अस्तित्व हो जाता है; इसलिये जीव का अस्तित्व नहीं रहता, और जीव का नास्तित्वधर्म भी नहीं रहता। जीव तो कर्म के अभावरूप है, तब फिर कर्म उसका क्या करेंगे ?

अहो! पररूप से मेरा अभाव है, इसलिये पर में मेरी शांति का भी अभाव है। इसलिये मेरी शांति मुझे अपने में ही ढूँढ़ना पड़ेगी।—ऐसा निश्चित करनेवाला स्वोन्मुख होकर शांति का अनुभव करता है। आत्मा के अपने अंतरंग-स्वभाव में ही शांति है और अशांति भी अपनी ही पर्याय में ही है। आत्मा को पर के कारण शांति या अशांति नहीं है। शरीर और आत्मा के बीच नास्तित्व होने से उनमें अनंत योजन का अंतर है; आकाश क्षेत्र की अपेक्षा से भले अंतर न हो किन्तु भाव से तो उनमें अनंत योजन का अंतर है; इसलिये इस देह के साथ आत्मा की शांति-अशांति का संबंध नहीं है। आत्मा तो अपने नास्तित्वधर्म के बल से देहातीत... वचनातीत... कर्मातीत है, और पर्याय में जो क्षणिक विकार है, वह त्रिकाली स्वभाव में नहीं है; इसलिये वह स्वभाव तो विकार से भी अतीत है; आत्मा के अस्ति-नास्ति स्वभाव को समझने से इसप्रकार का भेदज्ञान होता है।—ऐसा यह लोकोत्तर वीतरागी विज्ञान है। इस विज्ञान को समझे, उसे पर के साथ की एकत्वबुद्धि छूटकर वीतरागस्वभाव में एकत्वबुद्धि हो और अल्पकाल में ही उसकी मुक्ति हो जाये।

[यहाँ नास्तित्वधर्म का वर्णन पूर्ण हुआ।]

अनेकान्त

[प्रत्येक वस्तु को अनेकान्त 'अपने से पूर्ण' और 'पर से पृथक्' घोषित करता है]

प्रत्येक वस्तु अनेकान्तस्वरूप से निश्चित होती है। एक वस्तु में वस्तुपने को उत्पन्न करनेवाली अस्ति-नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना, सो अनेकान्त है। प्रत्येक वस्तु अपने रूप से अस्तिरूप है और पररूप से नास्तिरूप है; ऐसे अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा प्रत्येक वस्तु का स्वरूप निश्चित होता है। इसी न्याय से, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार और द्रव्य-पर्याय, इस प्रत्येक बोल का स्वरूप भी अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा निम्नानुसार निश्चित होता है—

निमित्त सम्बन्धी अनेकान्त

उपादान और निमित्त यह दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं; दोनों पदार्थ अपने-अपने स्वरूप से अस्तिरूप हैं, और दूसरे के स्वरूप से नास्तिरूप हैं; इसप्रकार निमित्त स्व-रूप से है और पर-रूप से नहीं है; निमित्त निमित्तरूप से है और उपादानरूप से वह नास्तिरूप है। इसलिये उपादान में निमित्त का अभाव है, इससे उपादान में निमित्त कुछ नहीं कर सकता। निमित्त, निमित्त का कार्य करता है, उपादान का कार्य नहीं करता—ऐसा अनेकान्त स्वरूप है। ऐसे अनेकान्त स्वरूप से निमित्त को जाने, तभी निमित्त का यथार्थ ज्ञान होता है। 'निमित्त, निमित्त का कार्य भी करता है और निमित्त, उपादान का कार्य भी करता है'—ऐसा कोई माने तो उसका अर्थ यह हुआ कि निमित्त अपनेरूप से अस्तिरूप है और पररूप से भी अस्तिरूप है; ऐसा होने से निमित्त पदार्थ में अस्ति-नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो धर्म सिद्ध नहीं हुए, इसलिये वह मान्यता एकान्त है। इसलिये 'निमित्त, उपादान का कुछ करता है'—ऐसा जिसने माना उसने अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा निमित्त के स्वरूप को नहीं जाना किन्तु अपनी मिथ्याकल्पना से एकान्त मान लिया है; उसने उपादान-निमित्त की भिन्नता, स्वतंत्रता नहीं मानी किन्तु उन दोनों की एकता मानी है; इसलिये उसकी मान्यता मिथ्या है।

उपादान सम्बन्धी अनेकान्त

उपादान स्व-रूप से है और पररूप से नहीं है; इसप्रकार उपादान का अस्ति-नास्तिरूप

अनेकान्त-स्वभाव है। उपादान के कार्य में उपादान के कार्य की अस्ति है और उपादान के कार्य में निमित्त के कार्य की नास्ति है।—ऐसे अनेकांत द्वारा प्रत्येक वस्तु का भिन्न-भिन्न स्वरूप ज्ञात होता है, तो उपादान में निमित्त क्या करे? कुछ भी नहीं कर सकता। जो ऐसा जानता है, उसने उपादान को अनेकान्तस्वरूप से जाना है; किन्तु 'उपादान में निमित्त कुछ भी करता है'—ऐसा जो माने उसने उपादान के अनेकान्तस्वरूप को नहीं जाना है। किन्तु एकान्तस्वरूप से माना है; इसलिये उसकी मान्यता मिथ्या है। निश्चय-व्यवहार भी मिथ्या है।

निश्चय और व्यवहार सम्बन्धी अनेकान्त

उपादान-निमित्त की भाँति निश्चय और व्यवहार का भी अनेकान्त-स्वरूप है। निश्चय है, वह निश्चयरूप से अस्तिरूप है और व्यवहाररूप से नास्तिरूप है; व्यवहार है, वह व्यवहाररूप से अस्तिरूप है और निश्चयरूप से नास्तिरूप है। इसप्रकार कथंचित् परस्पर विरुद्ध दो धर्म होने से वह अनेकान्तस्वरूप है। निश्चय और व्यवहार का एक-दूसरे में अभाव है, परस्पर लक्षण भी विरुद्ध है—ऐसा अनेकान्त बतलाता है, तब फिर व्यवहार, निश्चय में क्या करेगा?

व्यवहार, व्यवहार का कार्य करता है और निश्चय का कार्य नहीं करता, अर्थात् व्यवहार बन्धन का कार्य करता है और अबन्धपने का कार्य नहीं करता—ऐसा व्यवहार का अनेकान्त -स्वभाव है। इसके बदले व्यवहार, व्यवहार का भी कार्य करता है और व्यवहार, निश्चय का कार्य भी करता है—ऐसा जो मानता है, उसने व्यवहार के अनेकान्तस्वरूप को नहीं जाना है किन्तु व्यवहार को एकान्तरूप से माना है। वह व्यवहाराभासमात्र का धारक मिथ्यादृष्टि है।

व्यवहार करते-करते निश्चय होता है अर्थात् व्यवहार, निश्चय का कारण होता है—ऐसा माना, उसने निश्चय और व्यवहार को पृथक् नहीं जाना किन्तु दोनों को एक ही माना है, इसलिये वह भी एकान्त मान्यता हुई।

द्रव्य और पर्याय सम्बन्धी अनेकान्त

द्रव्य-पर्याय सम्बन्धी अनेकांतस्वरूप इसप्रकार है : द्रव्य, द्रव्यरूप से है और सम्पूर्ण द्रव्य एक पर्यायरूप नहीं है; पर्याय, पर्यायरूप है और एक पर्याय सम्पूर्ण द्रव्यरूप नहीं है। उसमें द्रव्य के आश्रय से धर्म होता है, पर्याय के आश्रय से धर्म नहीं होता। पर्यायबुद्धि से धर्म होता है—ऐसा मानना, वह एकान्त है। स्व-द्रव्य के आश्रय से धर्म होता है, उसके बदले अंश के-पर्याय के आश्रय से जिसने धर्म माना, उसकी मान्यता में पर्याय ने ही द्रव्य का काम किया अर्थात् पर्याय ही

द्रव्य हो गई; उसकी मान्यता में द्रव्य-पर्याय का अनेकान्तस्वरूप नहीं आया है। द्रव्यदृष्टि से (द्रव्य के आश्रय से) ही धर्म होता है और पर्यायबुद्धि से धर्म नहीं होता—ऐसा मानना, सो अनेकान्त है।

इसप्रकार एकान्त-अनेकात का स्वरूप समझना चाहिए।

जो जीव ऐसा अनेकान्त वस्तुस्वरूप समझे, वह जीव निमित्त, व्यवहार या पर्याय का आश्रय छोड़कर अपने द्रव्यस्वभाव की ओर ढले बिना नहीं रहता; अर्थात् स्वभाव के आश्रय से उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि धर्म होते हैं। इसप्रकार अनेकान्त की पहिचान से धर्म का प्रारम्भ होता है। जो जीव ऐसा अनेकान्तस्वरूप न जाने, वह कभी पर का आश्रय छोड़कर अपने स्वभाव की ओर नहीं ढलेगा और न उसे धर्म होगा।

[रात्रि चर्चा से]

भगवान श्री कुंदकुंद-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी-प्रकाशन

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये जिज्ञासु निम्नलिखित पुस्तकों की स्वाध्याय अवश्य करें !

समयसार प्रवचन – भाग १	६–०–०
समयसार प्रवचन – भाग २	५–०–०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें	१–६–०
दसलक्षणधर्म	०–१२–०
सम्यग्दर्शन	२–८–०
भेदविज्ञानसार	२–०–०
मूल में भूल	०–१२–०
मुक्ति का मार्ग	०–१०–०
आत्मधर्म की वार्षिक फाइलें	३–१२–०

उपरोक्त पुस्तकों में ''सम्यग्दर्शन'' नाम की पुस्तक अभी प्रगट हुई है, जो प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य पढ़ने योग्य है।

(डाक व्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: मुद्रक-प्रकाशक :

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये

जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकड़िया